११. देखें - प्रबन्धकोश, भद्रबाहु कथानक.
१२. उद्धृत - (क) रतनलाल दोशी, आत्मसाधना संग्रह, पृ० ४४१.
(ख) भगवतीआराधना, भाग १, पृ० १९७.
१३. Bradle, Ethical, Studies.
१४. मुनि नथमल, नैतिकता का गुरुत्वाकर्षण, पृ० ३-४.
१५. उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ५/२१.
१६. उत्तराध्ययनसूत्र, २५/१९.
१७. आचारांग, १/२/३/७५.
१८. सागरमल जैन, सागर जैन-विद्या भारती, भाग १, पृ० १५३.
१९. जटासिंहनन्दि, वरांगचरित, सर्ग २५, श्लोक ३३-४३.
२०. आचारांगनिर्युक्ति, १९.
२१. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० १५२.
२२. जिनसेन, आदिपुराण, ११/१६६-१६७.
२३. अन्तकृतदशांग, ३/१/३.
२४. उपासकदशांग, १/४८.
२५. वही, १/४८.
२६. वही, १/४८.
२७. ज्ञाताधर्मकथा, ८ (मल्लिअध्ययन), १६ (द्रौपदी अध्ययन).
२८. अन्तकृद्दशांग, ५/१/२१.
२९. स्थानांग, १०/७६० । विशेष विवेचन के लिये देखें- धर्मव्याख्या, जवाहर लालजी म. और धर्म-दर्शन, शुक्लचन्द्रजी म.
३०. धर्मदर्शन, पृ० ८६.
३१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, १५८.
३२. नन्दीसूत्र - पीठिका, ४-१७.

जैन धर्म और सामाजिक समता

(वर्ण एवं जाति व्यवस्था के विशेष सन्दर्भ में)

मानव समाज में स्त्री-पुरुष, सुन्दर-असुन्दर, बुद्धिमान्-मूर्ख, आर्य-अनार्य, कुलीन-अकुलीन, स्पर्श्य-अस्पर्श्य, धनी-निर्धन आदि के भेद प्राचीनकाल से ही पाये जाते हैं । इनमें कुछ भेद तो नैसर्गिक हैं और कुछ मानव सृजित । ये मानव सृजित भेद ही सामाजिक विषमता के कारण हैं । यह सत्य है कि सभी मनुष्य, सभी बातों में एक दूसरे से समान नहीं होते, उनमें रूप-सौन्दर्य, धन-सम्पदा, बौद्धिक-विकास, कार्य-क्षमता, व्यावसायिक-योग्यता आदि की दृष्टि से विषमता या तरतमता होती है । किन्तु इन विषमताओं या तरतमताओं के आधार पर अथवा मानव समाज के किसी व्यक्ति विशेष को वर्ग-विशेष में जन्म लेने के आधार पर निम्न, पतित, दलित या अस्पर्श्य मान लेना उचित नहीं है । यह सत्य है कि मनुष्यों में विविध दृष्टियों से विभिन्नता या तरतमता पायी जाती है और वह सदैव बनी भी रहेगी, किन्तु इसे मानव समाज में वर्ग-भेद या वर्ण-भेद का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक ही पिता के दो पुत्रों में ऐसी भिन्नता या तरतमता देखने में आती हैं । हम यह भी देखते हैं कि जो व्यक्ति गरीब होता है, वही कालक्रम में धनवान् या सम्पत्तिशाली हो जाता है । एक मूर्ख पिता का पुत्र भी बुद्धिमान् अथवा प्राज्ञ हो सकता है । एक पिता के दो पुत्रों में एक बुद्धिमान् तो दूसरा मूर्ख अथवा एक सुन्दर तो दूसरा कुरूप हो सकता है । अत: इस प्रकार की तरतमताओं के आधार पर मनुष्यों को सदैव के लिए मात्र जन्मना आधार पर विभिन्न वर्गों में बाँट कर नहीं रखा जा सकता है । चाहे वह धनोपार्जन हेतु चयनित विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्र हों, चाहे कला, विद्या अथवा साधना के क्षेत्र हों, हम मानव समाज के किसी एक वर्ग विशेष को जन्मना आधार पर उसका ठेकेदार नहीं मान सकते हैं । यह सत्य है कि नैसर्गिक योग्यताओं एवं कार्यों के आधार पर मानव समाज में सदैव ही वर्गभेद या वर्णभेद बने रहेगें, फिर भी उनका आधार वर्ग या जाति विशेष में जन्म न होकर व्यक्ति की अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर अपनाये गये व्यवसाय या कार्य होंगे । व्यवसाय या कर्म के सभी क्षेत्र सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से खुले होने चाहिए और किसी भी वर्ग विशेष में जन्मे व्यक्ति को भी किसी भी क्षेत्र विशेष में प्रवेश पाने के अधिकार से वंचित नहीं किया जाना चाहिये - यही सामाजिक समता का आधार है । यह सत्य है कि मानव समाज में सदैव ही कुछ शासक या अधिकारी और कुछ शासित या कर्मचारी होगें, किन्तु यह अधिकार भी मान्य नहीं हो सकता कि अधिकारी का अयोग्य पुत्र शासक और कर्मचारी या शासित का योग्य पुत्र शासित ही बना रहे । सामाजिक समता का तात्पर्य यह नहीं है कि मानव समाज में कोई भिन्नता या तरतमता ही नहीं हो । उसका तात्पर्य है मानव समाज के सभी सदस्यों को विकास के समान अवसर उपलब्ध हों तथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता और योग्यता के आधार पर अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित कर सके । इस सामाजिक समता के सन्दर्भ में जहाँ तक जैन आचार्यों के चिन्तन का प्रश्न है, उन्होंने मानव में स्वाभाविक योग्यता जन्य अथवा पूर्व कर्म-संस्कार जन्य तरतमता को स्वीकारते हुए भी यह माना है कि चाहे विद्या का क्षेत्र हो, चाहे व्यवसाय या

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साधना का उसमें प्रवेश का द्वार सभी के लिए बिना भेद-भाव के खुला रहना चाहिए। जैन धर्म स्पष्ट रूप से इस बात को मानता है कि किसी जाति या वर्ण-विशेष में जन्म लेने से कोई व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं होता। उसे जो हीन या श्रेष्ठ बनाता है, वह है उसका अपना पुरुषार्थ, उसकी अपनी साधना, सदाचार और कर्म। हम जैनों के इसी दृष्टिकोण को अग्रिम पृष्ठों में सप्रमाण प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगें।

जन्मना वर्ण-व्यवस्था : एक असमीचीन अवधारणा

जैन आचार्य श्रुति के इस कथन को स्वीकार नहीं करते हैं कि ब्राह्मणों की उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय की बाहु से, वैश्यों की जंघा से और शूद्र की पैरों से हुई है। चूँकि मुख श्रेष्ठ अंग है, अत: इन सबमें ब्राह्मण ही श्रेष्ठ है[१]। ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से जन्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र ऐसी वर्ण-व्यवस्था जैन चिन्तकों को स्वीकार नहीं है। उनका कहना है कि सभी मनुष्य स्त्री-योनि से ही उत्पन्न होते हैं। अत: सभी समान हैं[२]। पुन: इन अंगों में से किसी को श्रेष्ठ एवं उत्तम और किसी को निकृष्ट या हीन मानकर वर्ण-व्यवस्था में श्रेष्ठता एवं हीनता का विधान नहीं किया जा सकता है, क्योंकि शरीर के सभी अंग समान महत्त्व के हैं। इसी प्रकार शारीरिक वर्णों की भिन्नता के आधार पर किया गया ब्राह्मण आदि जातियों का वर्गीकरण भी जैनों को मान्य नहीं है।

आचार्य जटासिंह नन्दि ने अपने वरांगचरित में इस बात का विस्तार से विवेचन किया है कि शारीरिक विभिन्नताओं या वर्णों के आधार पर किया जाने वाला जाति सम्बन्धी वर्गीकरण मात्र पशु-पक्षी आदि के विषय में ही सत्य हो सकता है, मनुष्यों के सन्दर्भ में नहीं। वनस्पति एवं पशु-पक्षी आदि में जाति का विचार सम्भव है, किन्तु मनुष्य के विषय में यह विचार संभव नहीं है, क्योंकि सभी मनुष्य समान हैं। मनुष्यों की एक ही जाति है। न तो सभी ब्राह्मण शुभ्र वर्ण के होते हैं, न सभी क्षत्रिय रक्त वर्ण के, न सभी वैश्य पीत वर्ण के और न सभी शूद्र कृष्ण वर्ण के होते हैं। अत: जन्म के आधार पर जाति व वर्ण का निश्चय सम्भव नहीं है[३]।

समाज में ऊँच-नीच का आधार किसी वर्ण विशेष या जाति विशेष में जन्म लेना नहीं माना जा सकता। न केवल जैन परम्परा, अपितु हिन्दू परम्परा में भी अनेक उदाहरण है जहाँ निम्न वर्णो से उत्पन्न व्यक्ति भी अपनी प्रतिभा और आचार के आधार पर श्रेष्ठ कहलाये। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए वंरागचरित[४] में जटासिंह नन्दि कहते हैं कि 'जो ब्राह्मण स्वयं राजा की कृपा के आकांक्षी हैं और उनके द्वारा अनुशासित होकर उनके अनुग्रह की अपेक्षा रखते हैं, ऐसे दीन ब्राह्मण नृपों (क्षत्रियों) से कैसे श्रेष्ठ कहे जा सकते हैं। द्विज ब्रह्मा के मुख से निर्गत हुए अत: श्रेष्ठ हैं -- यह वचन केवल अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए कहा गया है। ब्राह्मण प्रतिदिन राजाओं की स्तुति करते हैं और उनके लिए स्वस्ति पाठ एवं शान्ति पाठ करते हैं, लेकिन वह सब भी धन की आशा से ही किया जाता है अत: ऐसे ब्राह्मण आप्तकाम नहीं माने जा सकते हैं। फलत: इनका अपनी श्रेष्ठता का दावा मिथ्या है। जिस प्रकार नट रंगशाला में कार्य स्थिति के अनुरूप विचित्र वेशभूषा को धारण करता है उसी प्रकार यह जीव भी संसार रूपी रंगमंच पर कर्मों के अनुसार भिन्न-भिन्न रूपों को प्राप्त होता है। तत्त्वत: आत्मा न ब्राह्मण है, न क्षत्रिय, न वैश्य और न शूद्र ही। वह तो अपने ही पूर्व कर्मों के वश में होकर संसार में विभिन्न रूपों में जन्म ग्रहण करता है। यदि शरीर के आधार पर ही किसी को ब्राह्मण, क्षत्रिय कहा जाय, तो यह भी उचित नहीं है। विज्ञ-जन देह को नहीं ज्ञान (योग्यता) को ही ब्रह्म कहते हैं। अत: निकृष्ट कहा जाने वाला शूद्र भी ज्ञान या प्रज्ञा-क्षमता के आधार पर वेदाध्ययन करने का पात्र हो सकता है। विद्या, आचरण एवं सद्गुण से रहित व्यक्ति जाति विशेष में जन्म लेने मात्र से ब्राह्मण नहीं हो जाता, अपितु अपने ज्ञान, सद्गुण आदि से युक्त होकर ही ब्राह्मण होता है। व्यास, वशिष्ठ, कमठ, कंठ, द्रोण, पराशर आदि अपने जन्म के आधार पर नहीं, अपितु अपने सदाचरण एवं तपस्या से ही ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए थे। अत: ब्राह्मणत्व आदि सदाचार और कर्त्तव्यशीलता पर आधारित है - जन्म पर नहीं।

सच्चा ब्राह्मण कौन ?

जैन परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना है। उत्तराध्ययन सूत्र के पच्चीसवें अध्ययन एवं धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका विस्तार से विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल कुछ गाथाओं को प्रस्तुत कर ही विराम लेगें। ~~उसमें कहा~~ गया है कि 'जिसे लोक में कुशल पुरुषों ने ब्राह्मण कहा है, जो अग्नि के समान सदा पूजनीय है और जो प्रियजनों के आने पर आसक्त नहीं होता और न उनके जाने पर शोक करता है, जो सदा आर्य-वचन में रमण करता है, उसे ब्राह्मण कहते हैं।'

'कसौटी पर कसे हुए और अग्नि के द्वारा दग्धमल हुए, शुद्ध किये गए जात रूप सोने की तरह जो विशुद्ध है, जो राग, द्वेष और भय से मुक्त है तथा जो तपस्वी है, कृश है, दान्त है, जिसका मांस और रक्त अपचित (कम) हो गया है, जो सुव्रत है, शांत है, उसे ही ब्राह्मण कहा जाता है।'

'जो त्रस और स्थावर जीवों को सम्यक् प्रकार से जानकर उनकी मन, वचन और काया से हिंसा नहीं करता है, जो क्रोध, हास्य, लोभ अथवा भय से झूठ नहीं बोलता, जो सचित्त या अचित्त, थोड़ा या अधिक अदत्त नहीं लेता है, जो देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन का मन, वचन और शरीर से सेवन नहीं करता है, जिस प्रकार जल में उत्पन्न हुआ कमल जल से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार जो कामभोगों से अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।'

इसी प्रकार जो रसादि में लोलुप नहीं है, जो निर्दोष भिक्षा से जीवन का निर्वाह करता है, जो गृह त्यागी है, जो अंकिचन है, पूर्वज्ञातिजनों एवं बन्धु-बान्धवों में आसक्त नहीं रहता है, उसे ही ब्राह्मण कहते है[५]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धम्मपद में भी कहा गया है कि 'जैसे कमल पत्र पर पानी होता है, जैसे आरे की नोंक पर सरसों का दाना होता है, वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दु:खों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त है, जो मेधावी है, स्थितप्रज्ञ है, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल है और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुका है- उसे ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ[६] । इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही सदाचार के आधार पर ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए, ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जो सदाचार और सामाजिक समता की प्रतिष्ठापक थी । न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध-परम्परा में वरन् महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा है । जैन परम्परा के उत्तराध्ययन सूत्र, बौद्ध-परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी अधिक है जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

सच्चा ब्राह्मण कौन है? इस विषय में 'कुमारपाल प्रबोध प्रबन्ध' में मनुस्मृति एवं महाभारत से कुछ श्लोक उद्धृत करके यह बताया गया है कि --'शील सम्पन्न शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाता है और सदाचार रहित ब्राह्मण भी शूद्र के समान हो जाता है । अत: सभी जातियों में चाण्डाल और सभी जातियों में ब्राह्मण होते हैं । हे अर्जुन ! जो ब्राह्मण कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा एवं राज्य की सेवा करते हैं वे वस्तुत: ब्राह्मण नहीं हैं । जो भी द्विज हिंसक, असत्यवादी, चौर्यकर्म में लिप्त, परदार सेवी हैं वे सभी पतित (शूद्र) हैं । इसके विपरीत ब्रह्मचर्य और तप से युक्त लौह व स्वर्ण में समान भाव रखने वाले, प्राणियों के प्रति दयावान् सभी जाति के व्यक्ति ब्राह्मण ही हैं ।

सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताते हुए कहा गया है --'जो व्यक्ति क्षमाशील आदि गुणों से युक्त हो, जिसने सभी दण्डों (परपीडन) का परित्याग कर दिया है, जो निरामिष-भोजी है और किसी भी प्राणि की हिंसा नहीं करता --यह किसी व्यक्ति के ब्राह्मण होने का प्रथम लक्षण है । इसी प्रकार जो कभी असत्य नहीं बोलता, मिथ्यावचनों से दूर रहता है --यह ब्राह्मण का द्वितीय लक्षण है । पुन: जिसने परद्रव्य का त्याग कर दिया है तथा जो अदत्त को ग्रहण नहीं करता, यह उसके ब्राह्मण होने का तृतीय लक्षण है । जो देव, असुर, मनुष्य तथा पशुओं के प्रति मैथुन का सेवन नहीं करता -- वह उसके ब्राह्मण होने का चतुर्थ लक्षण है । जिसने कुटुम्ब का वास अर्थात् गृहस्थाश्रम का त्याग कर दिया हो, जो परिग्रह और आसक्ति से रहित है, यह ब्राह्मण होने का पंचम लक्षण है । जो इन पाँच लक्षणों से युक्त है वही ब्राह्मण है, द्विज है और महान् है, शेष तो शूद्रवत् हैं । केवट की पुत्री के गर्भ से उत्पन्न व्यास नामक महामुनि हुए हैं । इसी प्रकार हरिणी के गर्भ से उत्पन्न शृंग ऋषि, शुनकी के गर्भ से शुक, माण्डूकी के गर्भ से मांडव्य तथा उर्वशी के गर्भ से उत्पन्न वशिष्ठ महामुनि हुए । न तो इन सभी ऋषियों की माता ब्राह्मणी हैं न ये संस्कार से ब्राह्मण हुए थे, अपितु ये सभी तप साधना या सदाचार से ब्राह्मण हुए हैं । इसलिए ब्राह्मण होने में जाति विशेष में जन्म कारण नहीं हैं, अपितु तप या सदाचार ही कारण हैं[७] ।

कर्मणा वर्ण-व्यवस्था जैनों को भी स्वीकार्य

जैन परम्परा में वर्ण का आधार जन्म नहीं अपितु कर्म माना गया है । जैन विचारणा जन्मना जातिवाद की विरोधी है किन्तु कर्मणा वर्णव्यवस्था से उसका कोई सैद्धान्तिक विरोध नहीं है । उत्तराध्ययनसूत्र[८] में कहा गया है कि -- 'मनुष्य कर्म से ब्राह्मण, कर्म से क्षत्रिय एवं कर्म से वैश्य एवं शूद्र होता है ।' महापुराण में कहा गया कि जातिनाम कर्म के उदय से तो मनुष्य जाति एक ही है । फिर भी आजीविका भेद से वह चार प्रकार की कही गई है । व्रतों के संस्कार से ब्राह्मण, शस्त्रों को धारण करने से क्षत्रिय, न्यायपूर्वक अर्थ का उपार्जन करने से वैश्य और निम्न श्रेणी की आजीविका का आश्रय लेने से शूद्र कहे जाते हैं । धन-धान्य आदि सम्पत्ति एवं मकान मिल जाने पर गुरु की आज्ञा से, अलग से आजीविका अर्जन करने से वर्ण की प्राप्ति या वर्ण लाभ होता है (४०/१८९,१९०) ।[९] इसका तात्पर्य यही है कि वर्ण या जाति सम्बन्धी भेद जन्म पर नहीं, आजीविका या वृत्ति पर आधारित है । भारतीय वर्ण व्यवस्था के पीछे एक मनोवैज्ञानिक आधार रहा है कि वैयक्तिक योग्यता अर्थात् स्वभाव के आधार पर ही व्यक्ति के सामाजिक दायित्वों (कर्मों) का निर्धारण करती है जिससे इंकार नहीं किया जा सकता है ।

अपनी स्वाभाविक योग्यता के आधार पर सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करने का समर्थन डॉ. राधाकृष्णन् और पाश्चात्य विचारक श्री गैरल्ड हर्ड ने भी किया है[१०] । मानवीय स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासा-वृत्ति, साहस या नेतृत्व-वृत्ति, संग्रहात्मकता और शासित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है । सामान्यत: मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है । प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्राधान्य होता है । दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार-प्रमुख कार्य हैं -- १. शिक्षण २. रक्षण ३. उपार्जन और ४. सेवा । अत: यह आवश्यक माना गया है कि व्यक्ति, अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्राधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुने । जिसमें बुद्धि नैर्मल्य और जिज्ञासावृत्ति हो, वह शिक्षण का कार्य करे; जिसमें साहस और नेतृत्व वृत्ति हो वह रक्षण का कार्य करे; जिसमें विनियोग तथा संग्रह-वृत्ति हो वह उपार्जन का कार्य करे और जिसमें दैन्यवृत्ति या सेवावृत्ति हो वह सेवा कार्य करे । इस प्रकार जिज्ञासा, नेतृत्व, विनियोग और दैन्य की स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा के सामाजिक कार्यों का विभाजन किया गया और इसी आधार पर क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये वर्ण बने । अत: वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं, अपितु स्वभाव (गुण) एवं तदनुसार कर्म पर आधारित है ।

वास्तव में हिन्दू आचार-दर्शन में भी वर्ण-व्यवस्था जन्म पर नहीं वरन् कर्म पर ही आधारित है । गीता में श्री कृष्ण स्पष्ट कहते हैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि 'चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का निर्माण गुण और कर्म के आधार पर ही किया गया है[११] ।' डॉ.राधाकृष्णन इसकी व्याख्या में लिखते हैं, यहाँ जोर गुण और कर्म पर दिया गया है, जाति (जन्म) पर नहीं । हम किस वर्ण के हैं, यह बात लिंग या जन्म पर निर्भर नहीं है अपितु स्वभाव और व्यवसाय द्वारा निर्धारित होती है[१२] ।' युधिष्ठिर कहते हैं 'तत्त्वज्ञानियों की दृष्टि में केवल आचरण (सदाचार) ही जाति का निर्धारक तत्त्व है । ब्राह्मण न जन्म से होता है, न संस्कार से, न कुल से और न वेद के अध्ययन से, ब्राह्मण केवल व्रत (आचरण) से होता है[१३] ।'

प्राचीनकाल में वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी, अपितु लचीली थी। वर्ण परिवर्तन का अधिकार व्यक्ति के अपने हाथ में था क्योंकि आचरण या कर्म के चयन द्वारा परिवर्तित हो जाता था । उपनिषदों में वर्णित सत्यकाम जाबाल की कथा इसका उदाहरण है । सत्यकाम जाबाल की सत्यवादिता के आधार पर ही उसे ब्राह्मण मान लिया गया था[१४] । मनुस्मृति में भी वर्ण परिवर्तन का विधान है, उसमें लिखा है कि सदाचार के कारण शूद्र ब्राह्मण हो जाता है और दुराचार के कारण ब्राह्मण शूद्र हो जाता है । यही बात क्षत्रिय और वैश्य के सम्बन्ध में भी है ।[१५] आध्यात्मिक दृष्टि से कोई एक वर्ण दूसरे वर्ण से श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि आध्यात्मिक विकास वर्ण पर निर्भर नहीं होता है । व्यक्ति स्वभावानुकूल किसी भी वर्ण के नियत कर्मों का सम्पादन करते हुए आध्यात्मिक पूर्णता या सिद्धि को प्राप्त कर सकता है ।

कोई भी कर्त्तव्य कर्म-हीन नहीं है

समाज व्यवस्था में अपने कर्त्तव्य के निर्वाह हेतु और आजीविका के उपार्जन हेतु व्यक्ति को कौन सा व्यवसाय या कर्म चुनना चाहिए यह बात उसकी योग्यता अथवा स्वभाव पर ही निर्भर करती है । यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक कर्त्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सफलता धूमिल होती है वहीं समाज-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त होती है । आध्यात्मिक श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है, वरन् इस बात पर निर्भर है कि वह उनका पालन किस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। यदि एक शूद्र अपने कर्त्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है तो वह अनैष्ठिक और अकुशल ब्राह्मण की अपेक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ है । गीता भी स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्तरीय कर्मों का सम्पादन करते हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उँचाइयों पर पहुँच सकता है । विशिष्ट सामाजिक कर्त्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता है, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके सदाचरण एवं आध्यात्मिक विकास से है । दिगम्बर जैन आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखते हैं-- सम्यक्-दर्शन से युक्त चाण्डाल शरीर में उत्पन्न व्यक्ति भी तीर्थंकरों के द्वारा ब्राह्मण ही कहा गया है[१६] ।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण भी पद्मचरित में लिखते हैं कि - कोई भी जाति गर्हित नहीं है वस्तुत: गुण ही कल्याण कारक होते हैं । जाति से कोई व्यक्ति चाहे चाण्डाल कुल में ही उत्पन्न क्यों न हो, व्रत में स्थित होने पर ऐसे चाण्डाल को भी तीर्थंकरों ने ब्राह्मण ही कहा है[१७] । अत: ब्राह्मण जन्म पर नहीं, कर्म/सदाचार पर आधारित है ।

जैन मुनि चौथमल जी निर्ग्रन्थप्रवचनभाष्य में लिखते हैं कि एक व्यक्ति दु:शील, अज्ञानी व प्रकृति से तमोगुणी होने पर भी अमुक वर्ण में जन्म के कारण समाज में ऊँचा व आदरणीय समझा जाय व दूसरा व्यक्ति सुशील, ज्ञानी व सतोगुणी होने पर भी केवल जन्म के कारण नीच व तिरस्कृत समझा जाय, यह व्यवस्था समाज घातक है और मनुष्य की गरिमा व विवेकशीलता पर प्रश्न चिह्न लगाती है । इतना ही नहीं ऐसा मानने से न केवल समाज के बहुसंख्यक भाग का अपमान होता है, प्रत्युत सदाचार व सद्गुण का भी अपमान होता है । इस व्यवस्था को अंगीकार करने से दुराचारी, सदाचारी से ऊपर उठ जाता है । अज्ञान-ज्ञान पर विजयी होता है तथा तमोगुण सतोगुण के सामने आदरास्पद बन जाता है । यह ऐसी स्थिति है जो गुण ग्राहक विवेकीजनों को सह्य नहीं हो सकती है[१८] । वास्तविकता तो यह है कि किसी जाति विशेष में जन्म ग्रहण करने का महत्त्व नहीं है, महत्त्व है व्यक्ति के नैतिक सदाचरण और वासनाओं पर संयम का । जैन विचारणा यह तो स्वीकार करती है कि लोक व्यवहार या आजीविका हेतु प्रत्येक व्यक्ति को रुचि व योग्यता के आधार पर किसी न किसी कार्य का चयन तो करना होगा । यह भी ठीक है कि विभिन्न प्रकार के व्यवसायों या कार्यों के आधार पर सामाजिक वर्गीकरण भी होगा । इस व्यावसायिक या सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में होने वाले वर्गीकरण में न किसी को श्रेष्ठ, न किसी को हीन कहा जा सकता है । जैनाचार्यों के अनुसार मनुष्य प्राणीवर्ग की सेवा का कोई भी हीन कार्य नहीं हैं । यहाँ तक की मल-मूत्र की सफाई करने वाला कहीं अधिक श्रेष्ठ है । जैन परम्परा में नन्दिषेणमुनि के सेवाभाव की गौरव गाथा लोक-विश्रुत है । जैन परम्परा में किसी व्यवसाय या कर्म को तभी हीन माना गया है, जब वह व्यवसाय या कर्म हिंसक या क्रूरतापूर्ण कार्यों से युक्त हो । जैनाचार्यों ने जिन जातियों या व्यवसायों को हीन कहा है वे हैं -- शिकारी बधिक, चिड़ीमार, मच्छीमार आदि । किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता का आधार आजीविका हेतु चुना गया व्यवसाय न होकर उसका आध्यात्मिक विकास या सद्गुणों का विकास है । उत्तराध्ययनसूत्र[१९] में कहा है कि साक्षात् तप (साधना) का ही महत्त्व दिखायी देता है जाति का कुछ भी नहीं । चाण्डाल-पुत्र हरकेशाी मुनि को देखो जिनकी प्रभावशाली ऋद्धि है । मानवीय समता जैनधर्म का मुख्य आधार है । उसमें हरकेशीबल जैसे चाण्डाल, अर्जुनमाली जैसे मालाकार, पूनिया जैसे धूनिया और शकडाल पुत्र जैसे कुम्भकार का भी वही स्थान है, जो स्थान उसमें इन्द्रभूति जैसे वेदपाठी ब्राह्मण पुत्र, दशार्णभद्र एवं श्रेणिक जैसे क्षत्रिय नरेश, धन्ना व शालिभद्र जैसे समृद्ध श्रेष्ठी रत्नों का है ।

आत्मदर्शी साधक जैसे पुण्यवान् व्यक्ति को धर्म उपदेश

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

करता है, वैसे ही तुच्छ (विपन्न, दरिद्र) को भी धर्म उपदेश करता है[२०]। सन्मार्ग की साधना में सभी मानवों को समान अधिकार प्राप्त है। धनी-निर्धन, राजा-प्रजा और ब्राह्मण-शूद्र का भेद जैन धर्म को मान्य नहीं है।

जैनधर्म में वर्ण एवं जाति व्यवस्था का ऐतिहासिक विकासक्रम

मूलतः जैनधर्म वर्णव्यवस्था एवं जातिव्यवस्था के विरुद्ध खड़ा हुआ था किन्तु कालक्रम में बृहत् हिन्दू-समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति सम्बन्धी अवधारणाएं प्रविष्ट हो गईं। जैन परम्परा में जाति और वर्ण व्यवस्था के उद्भव एवं ऐतिहासिक विकास का विवरण सर्वप्रथम आचारांगनिर्युक्ति (लगभग ईस्वी सन् तीसरी शती) में प्राप्त होता है। उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थी। ऋषभ के द्वारा राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ होने पर उसके दो विभाग हो गये - १.शासक (स्वामी) और २.शासित (सेवक)। उसके पश्चात् शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हुए --१. क्षत्रिय (शासक), २. वैश्य (कृषक एवं व्यवसायी) और ३. शूद्र (सेवक)। उसके पश्चात् श्रावक धर्म की स्थापना होने पर अहिंसक, सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ब्राह्मण (माहण) कहा गया। इसप्रकार क्रमशः चार वर्ण अस्तित्व में आये। इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के समवर्णीय तथा अन्तर्वर्णीय अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोगों से सोलहवर्ण बने, जिनमें सातवर्ण और नौ अन्तरवर्ण कहलाए। सात वर्ण में समवर्णीय स्त्री-पुरुष के संयोग से चार मूल वर्ण तथा ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न, क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न और वैश्य पुरुष और शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न ऐसे अनुलोम संयोग से उत्पन्न तीनवर्ण। आचारांगचूर्णि (ईसा की ७वीं शती) में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि 'ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्राणी के संयोग से जो सन्तान होती है वह उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय या संकर क्षत्रिय कही जाती है, यह पाँचवा वर्ण है। इसी प्रकार क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य या संकर वैश्य कही जाती है, यह छठा वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र-स्त्री के संयोग से उत्पन्न सन्तान शुद्ध शूद्र या संकरशूद्र कही जाती है, यह सातवाँ वर्ण है। पुनः अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्धों के आधार पर निम्न नौ अन्तर-वर्ण बने। ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अम्बष्ठ' नामक आठवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से 'उग्र' नामक नवाँ वर्ण हुआ। ब्राह्मण पुरुष और शूद्रा स्त्री से 'निषाद' नामक दसवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अयोग' नामक ग्यारहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। क्षत्रिय और ब्राह्मणी से 'सूत' नामक तेरहवाँ वर्ण हुआ। शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से 'क्षत्रा' (खत्ता) नामक चौदहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ। वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'वैदेह' नामक पन्द्रहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ और शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'चाण्डाल' नामक सोलहवाँ वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णो में परस्पर अनुलोम एवं प्रतिलोग संयोग से अनेक जातियाँ अस्तित्व में आयीं[२१]।

उपर्युक्त विवरण में हम यह देखते हैं कि जैन धर्म के आचार्यों ने भी काल-क्रम में जाति और वर्ण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिन्दू परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने ढंग से संशोधित कर स्वीकार कर लिया। लगभग सातवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए आचार्य जिनसेन ने लोकापवाद के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए हिन्दू वर्ण एवं जातिव्यवस्था को इस प्रकार आत्मसात् कर लिया कि इस सम्बन्ध में जैनों का जो वैशिष्ट्य था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिनसेन ने सर्वप्रथम यह बताया कि आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने षट्कर्मों का उपदेश देने के पश्चात् तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) की सृष्टि की। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। इनके दो भेद हैं -- कारू और अकारु। पुनः कारु के भी दो भेद हैं -- स्पृश्य और अस्पृश्य है। धोबी, नापित आदि स्पृश्य शूद्र हैं और चाण्डाल आदि जो नगर के बाहर रहते है वे अस्पृश्य शूद्र हैं (आदिपुराण १६/१८४-१८६)। शूद्रों के कारु और अकारु तथा स्पृश्य एवं अस्पृश्य- ये भेद सर्वप्रथम पुराणकार जिनसेन ने किये हैं[२२]। उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी जैन आचार्य ने इस प्रकार के भेदों को मान्य नहीं किया है। किन्तु हिन्दू समाज व्यवस्था से प्रभावित बाद के जैन आचार्यों ने इसे प्रायः मान्य किया। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर ने भी इस स्पृश्य-अस्पृश्य की चर्चा की हैं।[२३] यद्यपि पुराणकार ने शूद्रों को एकशाटकव्रत अर्थात् क्षुल्लकदीक्षा का अधिकार मान्य किया था, किन्तु बाद के दिगम्बर जैन आचार्यों ने उसमें भी कमी कर दी। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांगसूत्र (३/२०२) के मूलपाठ में तो केवल रोगी, भयार्त्त और नपुंसक की मुनि दीक्षा का निषेध था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने चाण्डालादि जाति जुंगित और व्याधादि कर्मजुंगित लोगों को दीक्षा देने का निषेध कर दिया[२४]। फिर भी यह सब जैन धर्म की मूल परम्परा के तो विरुद्ध ही था।

जातीय अहंकार मिथ्या है

जैनधर्म में जातीय मद और कुल मद को निन्दित माना गया है। भगवान महावीर के पूर्व-जीवनों की कथा में यह चर्चा आती है कि मारीचि के भव में उन्होंने अपने कुल का अहंकार किया था, फलतः उन्हें निम्न भिक्षुक कुल अर्थात् ब्राह्मणी माता के गर्भ में आना पड़ा है। आचारांग में वे स्वयं कहते हैं कि यह आत्मा अनेक बार उच्चगोत्र को और अनेक बार नीच गोत्र को प्राप्त हो चुका है। इसलिए वस्तुतः न तो कोई हीन/नीच है, और न कोई अतिरिक्त/विशेष/उच्च है। साधक इस तथ्य को जानकर उच्चगोत्र की स्पृहा न करे। उक्त तथ्य को जान लेने पर भला कौन गोत्रवादी होगा ? कौन उच्चगोत्र का अहंकार करेगा ? और कौन किस गोत्र/जाति विशेष में आसक्त चित्त होगा[२५] ?

इसलिये विवेकशील मनुष्य उच्चगोत्र प्राप्त होने पर हर्षित न हों ओर न नीचगोत्र प्राप्त होने पर कुपित/दुःखी हों। यद्यपि जैनधर्म में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उच्चगोत्र एवं निम्नगोत्र की चर्चा उपलब्ध है किन्तु गोत्र का सम्बन्ध परिवेश के अच्छे या बुरे होने से है। गोत्र का सम्बन्ध जाति अथवा स्पृश्यता-अस्पृश्यता के साथ जोड़ना भ्रान्ति है। जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार देवगति में उच्च गोत्र का उदय होता है और तिर्यंच मात्र में नीच गोत्र का उदय होता है किन्तु देवयोनि में भी किल्विषिक देव नीच एवं अस्पृश्यवत् होते हैं। इसके विपरीत अनेक निम्न गोत्र में उत्पन्न पशु जैसे-- गाय, घोड़ा, हाथी बहुत ही सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। वे अस्पृश्य नहीं माने जाते। अत: उच्चगोत्र में उत्पन्न व्यक्ति भी हीन और नीचगोत्र में उत्पन्न व्यक्ति भी उच्च हो सकता है। अत: गोत्रवाद की धारणा को प्रचलित जातिवाद तथा स्पृश्यास्पृश्य की धारणा के साथ नहीं जोड़ना चाहिए। भगवान् महावीर ने प्रस्तुत सूत्र में जाति-मद, गोत्र-मद आदि को निरस्त करते हुए यह स्पष्ट कह दिया है कि 'जब आत्मा अनेक बार उच्च-नीच गोत्र का स्पर्श कर चुका है, कर रहा है तब फिर कौन ऊँचा है? कौन नीचा ? ऊँच-नीच की भावना मात्र एक अहंकार है और अहंकार 'मद' है। मद नीचगोत्र के बन्धन का मुख्य कारण है। अत: इस गोत्रवाद व मानवाद की भावना से मुक्त होकर जो उनमें तटस्थ रहता है, वही समत्वशील है, वही पण्डित है।

मथुरा से प्राप्त अभिलेखों का जब हम अध्ययन करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि न केवल प्राचीन आगमों से अपितु इन अभिलेखों से भी यही फलित होता है कि जैन धर्म ने सदैव ही सामाजिक समता पर बल दिया है और जैनधर्म में प्रवेश का द्वार सभी जातियों के व्यक्तियों के लिये समान रूप से खुला रहा है। मथुरा के जैन अभिलेख इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि जैन मन्दिरों के निर्माण और जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा में धनी-निर्धन, ब्राह्मण-शूद्र सभी वर्गों, जातियों एवं वर्णो के लोग समान रूप से भाग लेते थे। मथुरा के अभिलेखों में हम यह पाते हैं कि लोहार, सुनार, गन्धी, केवट, लौहवणिक्, नर्तक और यहाँ तक कि गणिकायें भी जिन मन्दिरों का निर्माण व जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाती थीं[२६]। ज्ञातव्य है कि मथुरा के इन अभिलेखों में लगभग ६०% दानदाता उन जातियों से हैं, जिन्हें सामान्यतया निम्न माना जाता है। स्थूलिभद्र की प्रेयसी कोशा वेश्या द्वारा जैनधर्म अंगीकार करने की कथा तो लोक-विश्रुत है ही[२७]। मथुरा के अभिलेखों में भी गणिका नादा द्वारा देव कुलिका की स्थापना भी इसी तथ्य को सूचित करती है कि एक गणिका भी श्राविका के व्रतों को अंगीकार करके उतनी ही आदरणीय बन जाती थी, जितनी कोई राज-महिषी। आवश्यकचूर्णि और तित्थोगाली प्रकीर्णक में वर्णित कोशा वेश्या का कथानक और मथुरा में नादा नामक गणिका द्वारा स्थापित देव कुलिका, आयगपट्ट आदि इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं। जैन धर्म यह भी मानता है कि कोई दुष्कर्मा व दुराचारी व्यक्ति भी अपने दुष्कर्म का परित्याग करके सदाचार पूर्ण नैतिक-जीवन व व्यवसाय को अपना कर समाज में प्रतिष्ठित बन सकता है। जैन साधना का राजमार्ग तो उसका है जो उस पर चलता है, वर्ण, जाति या वर्ग विशेष का उस पर एकाधिकार नहीं है। जैन धर्म साधना का उपदेश तो वर्षा ऋतु के जल के समान है, जो ऊँचे पर्वतों, नीचे खेत-खलिहानों पर सुन्दर महल व झोपड़ी पर समान रूप से बरसता है। जिस प्रकार बादल बिना भेद-भाव के सर्वत्र जल की वृष्टि करते हैं उसी प्रकार मुनि को भी ऊँच-नीच, धनी-निर्धन का विचार किये वगैर सर्वत्र सन्मार्ग का उपदेश करना चाहिए[२८]। यह बात भिन्न है कि उसमें से कौन कितना ग्रहण करता है। जैन धर्म में जन्म के आधार पर किसी को निम्न या उच्च नहीं कहा जा सकता हाँ वह इतना अवश्य मानता है कि अनैतिक आचरण करना अथवा क्रूर कर्म द्वारा अपनी आजीविका अर्जन करना योग्य नहीं है, ऐसे व्यक्ति अवश्य हीन कर्मा कहे गये हैं किन्तु वे अपने क्रूर एवं अनैतिक कर्मों का परित्याग करके श्रेष्ठ बन सकते हैं।

ज्ञातव्य है कि आज भी जैन धर्म में और जैन श्रमणों में विभिन्न जातियों के व्यक्ति प्रवेश पाते हैं। मात्र यही नहीं श्रमण जीवन को अंगीकार करने के साथ ही निम्न व्यक्ति भी सभी का उसी प्रकार आदरणीय बन जाता है, जिस प्रकार उच्चकुल या जाति का व्यक्ति। जैनसंघ में उनका स्थान समान होता है। यद्यपि मध्यकाल में हिन्दू परम्परा के प्रभाव से विशेष रूप से दक्षिण भारत में जातिवाद का प्रभाव जैन समाज पर भी आया और मध्यकाल में मातंग आदि जाति-जुंगित (निम्नजाति) एवं मछुआरे, नट आदि कर्म जुंगित व्यक्तियों का श्रमण संस्था में प्रवेश अयोग्य माना गया। जैन आचार्यों ने इसका कोई आगमिक प्रमाण न देकर मात्र लोकापवाद का प्रमाण दिया, जो स्पष्ट रूप से इस तथ्य का सूचक है कि जैन परम्परा को जातिवाद बृहद् हिन्दू प्रभाव के कारण लोकापवाद के भय से स्वीकारना पड़ा।

इसी के परिणामस्वरूप दक्षिण भारत में विकसित जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में जो शूद्र की दीक्षा एवं मुक्ति के निषेध की अवधारणा आई, वह सब ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव के कारण ही था। यद्यपि हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि दक्षिण में जो निम्न जाति के लोग जैनधर्म का पालन करते थे, वे इस सबके बावजूद जैनधर्म से जुड़े रहे और वे आज भी पंचम वर्ण के नाम से जाने जाते हैं। यद्यपि बृहद् हिन्दू समाज के प्रभाव के कारण जैनों ने अपने प्राचीन मानवीय समता के सिद्धान्त का जो उल्लंघन किया, उसका परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ा और जैनों की जनसंख्या सीमित हो गयी।

विगत वर्षों में सद्भाग्य से जैनों में विशेष रूप से श्वेताम्बर परम्परा में यह समतावादी दृष्टि पुन: विकसित हुई है। कुछ जैन आचार्यों के इस दिशा में प्रयत्न के फलस्वरूप कुछ ऐसी जातियाँ जो निम्न एवं क्रूरकर्मा समझी जाती थीं, न केवल जैन धर्म में दीक्षित हुईं अपितु उन्होंने अपने हिंसक व्यवसाय को त्याग कर सदाचारी जवीन को अपनाया है। विशेष रूप से खटिक और बलाई जातियाँ जैन धर्म से जुड़ी हैं। खटिकों (हिन्दू-कसाइयों) के लगभग पाँच हजार परिवार समीर मुनिजी की विशेष प्रेरणा से अपने हिंसक व्यवसाय और मदिरा का सेवन आदि व्यसनों का परित्याग करके जैन धर्म से जुड़े और ये परिवार आज न केवल समृद्ध व सम्पन्न है, अपितु जैन समाज में भी बराबरी का स्थान पा चुके हैं। इसी प्रकार बलाईयों (हरिजनों) का भी एक बड़ा तबका मालवा में आचार्य नानालाल जी की प्रेरणा से मदिरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सेवन; मांसाहार आदि त्यागकर जैनधर्म से जुड़ा और एक सदाचार पूर्ण जीवन व्यतीत करने को प्रेरित हुआ है, ये इस दिशा में अच्छी उपलब्धि है। कुछ अन्य श्वेताम्बर एवं दिगम्बर जैन आचार्यों एवं मुनियों ने भी बिहार प्रान्त में सराक जाति एवं परमार क्षत्रियों को जैन धर्म से पुनः जोड़ने के सफल प्रयत्न किये हैं। आज भी अनेक जैनमुनि सामान्यतया निम्न कही जाने वाली जातियों से दीक्षित हैं और जैन संघ में समान रूप से आदरणीय हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि जैनधर्म सदैव ही सामाजिक समता का समर्थक रहा है।

जैनधर्म में वर्णव्यवस्था के सन्दर्भ में जो चिन्तन हुआ उसके निष्कर्ष निम्न हैं -

१. सम्पूर्ण मानव जाति एक ही है क्योंकि उसमें जाति भेद करने वाला ऐसा कोई भी स्वाभावकि लक्षण नहीं पाया जाता है जैसा कि एक जाति के पशु से दूसरे जाति के पशु में अन्तर होता है।

२. प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थी। वर्ण एवं जातिव्यवस्था स्वाभाविक योग्यता के आधार पर सामाजिक कर्त्तव्यों के कारण और आजीविका हेतु व्यवसाय को अपनाने के कारण उत्पन्न हुई। जैसे-जैसे आजीविका अर्जन के विविध स्रोत विकसित होते गये वैसे-वैसे मानव समाज में विविध जातियां अस्तित्व में आती गई, किन्तु ये जातियाँ मौलिक नहीं है मात्र मानव सृजित हैं।

३. जाति और वर्ण का निर्धारण जन्म के आधार पर न होकर व्यक्ति के शुभाशुभ आचरण एवं उसके द्वारा अपनाये गये व्यवसाय द्वारा होता है अतः वर्ण और जाति व्यवस्था जन्मना नहीं, अपितु कर्मणा है।

४. यदि जाति और वर्णव्यवस्था व्यवसाय अथवा सामाजिक दायित्व पर स्थित है तो ऐसी स्थिति में सामाजिक कर्त्तव्य और व्यवसाय के परिवर्तन के आधार पर जाति एवं वर्ण में परिवर्तन सम्भव है।

५. कोई भी व्यक्ति किसी जाति या परिवार में उत्पन्न होने के कारण हीन या श्रेष्ठ नहीं होता, अपितु वह अपने सत्कर्मों के आधार पर श्रेष्ठ होता है।

६. जाति एवं कुल की श्रेष्ठता का अहंकार मिथ्या है। उसके कारण सामाजिक समता एवं शान्ति भंग होती है।

७. जैनधर्म के द्वार सभी वर्ण और जातियों के लिए समान रूप से खुले रहे हैं। प्राचीन स्तर के जैन ग्रन्थों से यह संकेत मिलता है कि उसमें चारों ही वर्णों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन-पूजा करने, श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म का पालन करने और साधन के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे। सातवीं-आठवीं सदी में जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्र को मुनि दीक्षा और मोक्ष प्राप्ति के अयोग्य माना। श्वेताम्बर आगमों में कहीं शूद्र की दीक्षा का निषेध नहीं है, स्थानांग में मात्र रोगी, भयार्त्त और नपुंसक की दीक्षा का निषेध है किन्तु आगे चलकर उनमें भी जाति-जुंगित जैसे-चाण्डाल आदि और कर्म जुंगित जैसे -कसाई आदि की दीक्षा का निषेध कर दिया गया। किन्तु यह बृहत्तर हिन्दू परम्परा का प्रभाव ही था जो कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध था, जैनों ने इसे केवल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाये रखने हेतु मान्य किया, क्योंकि आगमों में हरकेशीबल, मैतार्य, मातंगमुनि आदि अनेक चाण्डालों के मुनि होने और मोक्ष प्राप्त करने के उल्लेख हैं।

८. प्राचीन जैनागमों में मुनि के लिए उत्तम, मध्यम और निम्न तीनों ही कुलों से भिक्षा ग्रहण करने का निर्देश मिलता है। इससे यही फलित होता है कि जैनधर्म में वर्ण या जाति का कोई भी महत्त्व नहीं था।

९. जैनधर्म यह स्वीकार करता है कि मनुष्यों में कुछ स्वभावगत भिन्नताएं सम्भव हैं, जिनके आधार पर उनके सामाजिक दायित्व एवं जीविकार्जन के साधन भिन्न होते हैं। फिर भी वह इस बात का समर्थक है कि सभी मनुष्यों को अपने सामाजिक दायित्वों एवं आजीविका अर्जन के साधनों को चयन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता और सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिये क्योंकि ये ही सामाजिक समता के मूल आधार हैं।

सन्दर्भ

१. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत्॥
-ऋग्वेद, १०/९०/१२, सं. दामोदर सातवलेकर, बालसाड, १९८८

२. अभिधानराजेन्द्रकोश, खण्ड ४, पृ. १४४१

३. चत्वार एकस्य पितुः सुताश्चेत्तेषां सुतानां खलु जातिरेका।
एवं प्रजानां च पितैक एवं पित्रैकभावाद्य न जातिभेदः॥
फलान्यथोदुम्बर वृक्षजातेर्यथाग्रमध्यान्त भवानि यानि।
रूपाक्षतिस्पर्शसमानि तानि तथैकतो जातिरपि प्रचिन्त्या॥
न ब्राह्मणाश्चन्द्रमरीचिशुभ्रा न क्षत्रियाः किंशुकपुष्पगौराः।
न चेह वैश्या हरितालतुल्याः शूद्रा न चाङ्गार समानवर्णाः॥
- वरांगचरित, सर्ग २५, श्लोक ३,४,७-- जटासिंहनन्दि, संपा. ए. एन. उपाध्ये, बम्बई १९३८

४. ये निग्रहानुग्रहयोरशक्ता द्विजा वराकाः परपोष्यजीवाः।
मायाविनो दीनतमा नृपेभ्यः कथं भवन्त्युत्तमजातयस्ते॥
तेषां द्विजानां मुख निर्गतानि वचांस्यमोघान्यघनाशकानि।
इहापि कामान्स्वमनः प्रक्लृप्तान लभन्त इत्येव मृषावचस्तत्॥
यथानटो रङ्गमुपेत्य चित्रं नृत्तानुरूपानुपयाति वेषान्॥
जीवस्तथा संसृतिरङ्गमध्ये कर्मानुरूपानुपयाति भावान्॥
न ब्रह्मजातिस्त्विह काचिदस्ति न क्षत्रियो नापि च वैश्यशूद्रे।
ततस्तु कर्मानुवशा हितात्मा संसार चक्रे परिवंभ्रमीति॥
आपातकत्वाच्च शरीरदाहे देहं न हि ब्रह्म वदन्ति तज्ज्ञाः।
ज्ञानं च न ब्रह्म यतो निकृष्ट शूद्रोऽपि वेदाध्ययनं करोति॥
विद्याक्रिया चारु गुणैः प्रहीणो न जातिमात्रेण भवेत्स विप्रः।
ज्ञानेन शीलेन गुणेन युक्त तं ब्राह्मणं ब्रह्मविदो वदन्ति॥
- वही, सर्ग २५, श्लोक ३३, ३४, ४०-४३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५. जे लोए बम्भणो वुत्तो, अग्गी वा महिओ जहा ।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ।।
जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयन्तो न सोयई ।
रमइ अज्जवयणंमि, तं वयं बूम माहणं ।।
जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं ।
रागद्दोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं ।।
तवस्सियं किसं दन्तं अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं ।।
तसपाणे वियाणेत्ता, संगहेण य थावरे ।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं ।।
कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया ।
मुसं न वयई जो उ,तं वयं बूम माहणं ।।
चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं ।
न गेण्हाइ अदत्तं जे,तं वयं बूम माहणं ।।
दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं ।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं ।।
जहा पोमं जले जायं, नोवलिप्पइ वारिणा ।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं ।।
अलोलुयं मुहाजीवी, अणगारं अकिंचणं ।
असंसत्तं गिहत्थेसु तं वयं बूम माहणं ।।
जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य बन्धवे ।
जो न सज्जइ भोगेसुं, तं वयं बूम माहणं ।।
-उत्तराध्ययनसूत्र, संपादक- साध्वी चंदना, २५/१९-२९

६. वारिपोक्खरपत्ते व आरग्गेरिव सासपो ।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।
यो दुक्खस्स पजानाति इधेव खयमत्तनो ।
पन्नभारं विसञ्ञुत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।
गम्भीर पञ्ञं मेधाविं मग्गामग्गस्स कोविदं ।
उत्तमत्थं अनुप्पत्तं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ।।
-धम्मपद, ब्राह्मणवर्ग, ४०१-४०३, संपादक-भिक्षुधर्मरक्षित, १९८३

७. शूद्रोऽपि शीलसंपन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत् ।
ब्राह्मणोऽपि क्रियाहीनः शूद्रापत्यसमो भवेत् ।।
अतः- सर्वजातिषु चाण्डालाः सर्वजातिषु ब्राह्मणाः ।
ब्राह्मणेष्वपि चाण्डालाः चाण्डालेष्वपि ब्राह्मणाः ।।
कृषि-वाणिज्य-गोरक्षां राजसेवामकिंचनाः ।
ये च विप्राः प्रकुर्वन्ति न ते कौन्तेय ! ब्राह्मणाः ।।३।।
हिंसकोऽनृतवादी च चौर्ययाभिरतश्च यः ।
परदारोपसेवी च सर्वे ते पतिता द्विजाः ।।
ब्रह्मचर्यतपोयुक्ताः समानलोष्टकांचनाः ।
सर्वभूतदयावन्तो ब्राह्मणाः सर्वजातिषु ।।
क्षान्त्यादिकगुणैर्युक्तो व्यस्तदण्डो निरामिषः ।
न हन्ति सर्वभूतानि प्रथमं ब्रह्मलक्षणम् ।।
सदा सर्वानृतं त्यक्तवा मिथ्यावादाद् विरच्यते ।
नानृतं च वदेद् वाक्यं द्वितीयं ब्रह्मलक्षणम् ।।
सदा सर्व परद्रव्यं बहिर्वा यदि वा गृहे ।
अदत्तं नैव गृण्हाति तृतीयं ब्रह्मलक्षणम् ।।
देवासुरमनुष्येषु तिर्यग्योनिगतेषु च ।
न सेवते मैथुनं यश्चचतुर्थं ब्रह्मलक्षणम् ।।
त्यक्तवा कुटुम्बवासं तु निर्ममो निः परिग्रहः ।
युक्तश्चरति निः सङ्गः पंचमं ब्रह्मलक्षणम् ।।
पंचलक्षणसंपूर्ण ईशो यो भवेद् द्विजः ।
महान्तं ब्राह्मणं मन्ये शेषाः शूद्रा युधिष्ठिर ! ।।
कैवर्त्तीगर्भसम्भूतो व्यासो नाम महामुनिः ।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ।।
हरिणीगर्भसम्भूतो ऋषिशृंङ्गो महामुनिः । तप ।।
शुनकीगर्भसम्भूतः शुको नाम मुनिस्तथा । तप ।।
मण्डूकीगर्भसम्भूतो माण्डव्यश्च महामुनिः । तप ।।
उर्वशीगर्भसम्भूतो वशिष्ठस्तु महामुनिः । तप ।।
न तेषां ब्राह्मणी माता संस्कारश्च न विद्यते । तप ।।
यद्वत्काष्ठमयो हस्ती यद्वच्चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणस्तु कियाहीनस्त्रस्ते नामधारकाः ।।
- कुमारपालचरित्रसंग्रह के अन्तर्गत कुमारपाल प्रबोध, पृ. ६०६, श्लोक ११९-१३६, संपादक - जिनविजयमुनि, प्रकाशक - सिंघी जैन शास्त्र शिक्षापीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, विक्रम संवत् २०१३।

८. कम्मुणा बम्भणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइस्से कम्मुणाहोइ सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।
-उत्तराध्ययन सूत्र, २५/३३

९. मनुष्यजातिरेकैव जातिनामोदयोद्भवा ।
वृत्तिभेदाहिताद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ।।३८-४५
ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात् क्षत्रियाः शस्त्रधारणात् ।।
वणिजोऽर्थाजर्नान्न्याय्यात शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात्।।३८-४६ ।।
गुरोरनुज्ञया लब्धधनधान्यादिसम्पदः ।
पृथक्कृतालयस्यास्यै वृत्तिर्वर्णाप्तिरिस्यते ।।३८-१३७ ।।
सृष्टयन्तरमतो दूरं अपास्य नयतत्त्ववित् ।
अनादिक्षत्रियैः सृष्टां धर्मसृष्टिं प्रभावयेत् ।।४०-१८९।।
तीर्थकृद्भिरयं सृष्टा धर्मसृष्टिः सनातनी ।
तां संश्रितान्नृपानेव सृष्टिहेतून् प्रकाशयेत् ।।४०-१९०।।
-महापुराण, जिनसेन, ३८/४५-४६, १३७,१८९,१९०

१०. भगवद्गीता, डॉ. राधाकृष्णन, पृ. ३५३

११. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
-गीता, ४/१३

१२. भगवद्गीता- राधाकृष्णन, पृ. १६३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३. राजन् कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत् सुनिश्चितम् ।।३/३/१०७।।
श्रृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम् ।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः ।।
-महाभारत, वनपर्व, ३१३/१०७,१०८ गीता प्रेस, गोरखपुर

१४. देखें -- छान्दोग्योपनिषद् (गीता प्रेस, गोरखपुर) ४/४

१५. शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ।।
- मनुस्मृति १०/६५, सं. सत्यभूषण योगी, १९६६

१६. सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढ़ाङ्गारान्तरौजसम् ।।
-रत्नकरण्डकश्रावकाचार, २८

१७. न जातिर्गर्हिता काचित् गुणाः कल्याणकारणम् ।
व्रतस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ।।
-पद्मचरित, पर्व, ११/२०३

१८. निर्गन्थप्रवचनभाष्य,-- मुनि श्री चौथमल जी, पृ. २८९

१९. सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसई जाइ विसेस कोइ ।
सोवागपुत्ते हरिएस साहू, जस्से इड्ढि महाणुभागा ।।
उत्तराध्ययनसूत्र, १२/३७

२०. जहा पुण्णस्स कत्थति तहा तुच्छस्स कत्थति ।
जहा तुच्छस्स कत्थति तहा पुण्णस्स कत्थति ।
-आचारांग-- सं. मधुकर मुंनि, १/२/६/१०२

२१ अ. एक्का मणुस्सजाई रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे ।
तिण्णेव सिप्पवणिए सावगधम्मम्मि चत्तारि ।।
संजोगे सोलसगं सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो
एए दोवि विगप्पा ठवणा बंभस्स णायव्वा ।।
पगई चउक्कगाणंतरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ ।
आणंतरेसु चरमो एण्णें खलु होइ णायव्वो ।।
अंबट्ठुग्गनिसाया य अजोगवं मागहा य सूया य ।
खत्ता (य) विदेहाविय चंडाला नवमगा हुंति ।।
एगंतरिए इणमो अंबट्ठो चेव होइ उग्गो य ।
बिइयंतयरिअ निसाओ परासरं तं च पुण वेगे ।।
पडिलोमे सुद्दाई अजोगवं मागहो य सूओ अ ।
एगंतरिए खत्ता वेदेहा चेव नायव्वा ।।
बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होइ णायव्वो ।
अणुलोमे पडिलोमे एवं एए भवे भेया ।।
उग्गेणं खत्ताए सोवागो वेणवो विदेहेणं ।
अंबट्ठीए सुद्दीय बुक्कसो जो निसाएणं ।।
सूएण निसाईए कुक्करओ सोवि होइ णायव्वो ।
एसो बीओ भेओ चउव्विहो होइ णायव्वो ।।
-आचारांगनिर्युक्ति, १९-२७

२१ब. 'एगा मणुस्सजाई गाहा (१९-८) एत्थ उसभसामिस्स पुव्वभवजम्मणअहिसेयचक्कवट्टिरायाभिसेगाति, तत्थ जे रायअस्सिता ते य खत्तिया जाया अणस्सिता गिहवइणो जाया, जया अग्गी उप्पण्णो ततो य भगवऽस्सिता सिप्पिया वाणिगया जाया, तेहिं तेहिं सिप्पवाणिज्जेहिं वित्तिं विसंतीती वइस्सा उप्पन्ना, भगवए पव्वइए भरहे अभिसित्ते सावगधम्मे उप्पण्णे बंभणा जाया, अणस्सिता बंभणा जाया माहणत्ति, उज्जुगसभावा धम्मपियां जं च किंचि हणंतं पिच्छंति तं निवारंति मा हण भो मा हण, एवं ते जणेणं सुकम्मनिवत्तितसन्ना बंभणा (माहणा) जाया, जे पुण अणस्सिया असिप्पिणो ते वयख (क) लासुइबहिकआ तेसु तेसु पओयणेसु सोयमाणा हिंसाचोरियादिसु सज्जमाणा सोगद्रोहणसीला सुद्दा संवुत्ता, एवं तावं चत्तारिवि वण्णा ठाविता, सेसाओ संजोएणं तत्थ संजोए सोलसयं गाहा (२०-८) एतेसिं चेव च उण्हं वण्णाणं पुव्वाणुपुव्वीए अणंतरसंजोएणं अण्णे तिण्णि वण्णा भवंति, तत्थ 'पयती चउक्कयाणंतरे' गाहा (२१-८) पगती णाम बंभखत्तियवइससुद्दा चउरो वण्णा । इदाणिं अंतरेण-बंभणेणं खत्तियाणीए जाओ सो उत्तमखत्तिओ वा सुद्धखत्तिओ वा अहवा संकरखत्तिओ पंचमो वण्णो, जो पुण खत्तिएणं वइस्सीए जाओ एसो उत्तमवइस्सो वा सुद्धवइस्सो वा संकरवइस्सो वा छट्ठो वण्णो, जो वइस्सेण सुद्दीए जातो सो उत्तमसुद्दो वा (सुद्धसुद्दो) वा संकरसुद्दो वा सत्तमो वण्णो । इदाणिं वण्णेणं वण्णेहिं वा **अंतरितो** अणुलोमओ पडिलोमतो य अंतरा सत्त वण्णंतरया भवंति, जे अंतरिया ते एगंतरिया दुअंरिया भवंति । चत्तारि गाहाओ पढियव्वाओ (२२,२३,२४,२५-८) तत्थ ताव बंभणेणं वइस्सीए जाओ अंबट्ठोत्ति वुच्चइ एसो अट्ठमो वण्णो, खत्तिएणं सुंद्दीए जातो उग्गोत्ति वुच्चइ एसो नवमो वण्णो, बंभणेण सुद्दीए निसातोत्ति वुच्चइ, किंत्तिपारासवोत्ति, तिण्णि गया, दसमो वण्णो। इदाणिं पडिलोमा भण्णंति-सुद्देण वइस्सीए जाओ अउगवुत्ति भण्णइ, एक्कारसमो वण्णो, वइस्सेणं खत्तियाणीए जाओ मागहोत्ति भण्णइ, दुवालसमो, खत्तिएणं बंभणीए जाओ सओत्ति भण्णति, तेरसो वण्णो सुद्देण खत्तियाणीए जाओ खत्तिओत्ति भण्णइ चोद्दसमो, वइस्सेण बंभणीए जाओ वैदेहोत्ति भण्णति, पन्नरसमो वण्णो, सुद्देण बंभणीए जाओ चंडालेत्ति पवुच्चइ, सोलसमो वण्णो, एतवूतिरित्ताजेते बिजाते ते वुच्चंति - उग्गेण खत्तियाणिए सोवागेत्ति वुच्चइ, वैदेहेणं खत्तीए जाओ वेणवुत्ति वुच्चइ, निसाएणं अंबठ्टीए जाओ बोक्कसोत्ति वुच्चइ, निसाएण सुद्दीए जातो सोवि बोक्कसो, सुद्देण निसादीए कुक्कुडओ, एवं सच्छंदमतिविगप्पितं ।

२२. क्षत्रियाः शस्त्रजीवित्वं अनुभूय तदाभवन् ।
वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपशुपाल्योपजीविताः ।।
तेषां शुश्रूषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारवः ।
कारवो रजकाद्याः स्युस्ततोऽन्ये स्थुरकारवः ।।
कारवोऽपि मता द्वेधा स्पृश्यास्पृश्यविकल्पतः ।
तत्रास्पृश्याः प्रजावास्याः स्पृश्याः स्यु कर्त्तकादयः ।।
-आदिपुराण, १६/१८४-१८६

२३. ततो णो कप्पंति पव्वावेत्तए, तं-पंडए वीत्ते (चाहिये) कीवे ?

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२४. यदाह--'३ बाले बुड्ठे नपुंसे य, जड्डे कीवे य वाहिए।
तेणे रायावगारीय, उम्मत्ते य अंदसणे ।।१।।
दासे दुट्ठे (य) अणत्त जुंगिए इय ।
ओबद्धए य भयए, सेहनिप्फेडिया इय ।।२।।
स्थानांगसूत्रम्, अभयदेवसूरिवृत्ति, (प्रकाशक-- सेठ माणेकलाल, चुन्नीलाल, अहमदाबाद, विक्रम संवत् १९९४) सूत्र ३/२०२, वृत्ति पृ. १५४

२५. से असइं उच्चागोए असंइ णीयागोए ।
णो हीणे णो अइरिते णो पीहए ।।
इतिसंखाय के गोतावादी, के माणावादी, कंसि वा एगे गिज्झे ?
तम्हापंडिते णो हरिसे णो कुज्झे
-आचारांग,(सं. मधुकरमुनि), १/२/३/७५

२६. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, संग्रहकर्त्ता-विजयमूर्ति, लेख क्रमांक ८,३१,४१,५४,६२,६७,६९,

२७अ. आवश्यकचूर्णि, जिनदासगणि, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम, भाग १,पृ. ५५४

ब. भक्तपरिज्ञा, १२८

स. तित्थोगालिअ, ७७७

२८. आचारांग, सं. मधुकरमुनि, १/२/६/१०२

●

जैन धर्म में नारी की भूमिका

भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं में श्रमण परम्परा विवेक प्रधान एवं क्रान्तिधर्मी रही है । उसने सदैव ही विषमतावादी और वर्गवादी अवधारणाओं के स्थान पर समतावादी जीवन मूल्यों को स्थापित करने का प्रयास किया है । जैन धर्म भी श्रमण परम्परा का ही एक अंग है अत: उसमें भी नर एवं नारी की समता पर बल दिया गया और स्त्री के दासी या भोग्या स्वरूप को नकार कर उसे पुरुष के समकक्ष ही माना गया है । फिर भी यह सत्य है कि जैन धर्म और संस्कृति का विकास भी भारतीय संस्कृति के पुरुष प्रधान परिवेश में ही हुआ है, फलत: क्रान्तिधर्मी होते हुए भी वह अपनी सहगामी ब्राह्मण परम्परा के व्यापक प्रभाव से अप्रभावित नहीं रह सकी और उसमें भी विभिन्न कालों में नारी की स्थिति में परिवर्तन होते रहे ।

यहाँ हम आगमों और व्याख्या साहित्य के आधार पर जैनाचार्यों की दृष्टि में नारी की क्या स्थिति रही है इसका मूल्यांकन करेंगे, किन्तु इसके पूर्व हमें इस साहित्य में उपलब्ध सन्दर्भों की प्रकृति को समझ लेना आवश्यक है । जैन आगम साहित्य एक काल की रचना नहीं है । वह ईसा पूर्व पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवी शती तक अर्थात् एक हजार वर्ष की सुदीर्घ कालावधि में निर्मित, परिष्कारित और परिवर्तित होता रहा है अत: उसके समग्र सन्दर्भ एक ही काल के नहीं हैं । पुन: उनमें भी जो कथा भाग है, वह मूलत: अनुश्रुतिपरक और प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्ध रखता है । अत: उनमें अपने काल से भी पूर्व के अनेक तथ्य उपस्थित हैं जो अनुश्रुति से प्राप्त हुए हैं । उनमें कुछ ऐसे भी तथ्य हैं जिनकी ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है और उन्हें मात्र पौराणिक कहा जा सकता है । जहाँ तक आगमिक व्याख्या साहित्य का सम्बन्ध है, वह मुख्यत: आगम ग्रन्थों पर प्राकृत एवं संस्कृत में लिखी गयी टीकाओं पर आधारित है अत: इसकी कालावधि ईसा की ५वीं शती से बारहवीं शती तक है । उसमें भी अपने युग के सन्दर्भों के साथ आगम युग के सन्दर्भ भी मिल गये हैं । इसके अतिरिक्त इन आगमिक व्याख्याओं में कुछ ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं, जिनका मूल स्रोत, न तो आगमों में और न व्याख्याकारों के समकालीन समाज में खोजा जा सकता है, यद्यपि वे आगमिक व्याख्याकारों की मन:प्रसूत कल्पना भी नहीं कहे जा सकते हैं । उदाहरण के रूप में मरुदेवी, ब्राह्मी, सुन्दरी तथा पार्श्वनाथ की परम्परा की अनेक साध्वियों से सम्बन्धित विस्तृत विवरण, जो आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध हैं, वे या तो आगमों में अनुपलब्ध हैं या मात्र संकेत रूप में उपलब्ध हैं, किन्तु हम यह नहीं मान सकते हैं कि ये आगमिक व्याख्याकारों की मन:प्रसूत कल्पना है। वस्तुत: वे विलुप्त पूर्व साहित्य के ग्रन्थों से या अनुश्रुति से इन व्याख्याकारों को प्राप्त हुए हैं । अत: आगमों और आगमिक व्याख्याओं के आधार पर नारी का चित्रण करते हुए हम यह नहीं कह सकते कि वे केवल आगमिक व्याख्याओं के युग के सन्दर्भ हैं, अपितु उनमें एक ही साथ विभिन्न कालों के सन्दर्भ उपलब्ध हैं । अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से उन्हें निम्न काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है -

१. **पूर्व युग** - ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक ।
२. **आगम युग** - ईसा पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी तक ।
३. **प्राकृत आगमिक व्याख्या युग** - ईसा की पाँचवी शताब्दी से आठवीं शताब्दी तक ।
४. **संस्कृत आगमिक व्याख्या एवं पौराणिक कथा साहित्य युग** - आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक ।

इसी सन्दर्भ में एक कठिनाई यह भी है कि इन परवर्ती आगमों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org